॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
२४७४

आत्मा की क्रिया

आत्मा की क्रिया आत्मा में ही समाविष्ट हो जाती है। आत्मा चैतन्य में ही समझा और उसी में लीन होकर मुक्त हो गया। पहले चैतन्यस्वरूप को भेद के विकल्पों से भिन्न जाना और फिर उस अभेद-चैतन्य में ही लीन होकर भेद को तोड़कर मुक्त हो गया-चैतन्य से बाहर कुछ नहीं किया। आत्मा की क्रिया आत्मा में ही समाविष्ट हो जाती है। आत्मा की संसारक्रिया या मोक्षक्रिया शरीर में नहीं होती; शरीर तो जड़ है। विकार भी आत्मा में होते हैं, और मुक्ति भी आत्मा में ही होती है।

यह मार्ग ही आत्मा का है, आत्मा के साथ ही उसका सम्बन्ध है। आत्मा में से ही प्रारम्भ होता है और पूर्णता भी आत्मा में ही समाविष्ट होती है। इसी में यह बात आ गई कि मात्र आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो भी भेद के विकल्प बीच में आयें, उन्हें तोड़कर अभेद आत्मा में लीन होना ही मुक्ति का उपाय है।

[श्री समयसार-मोक्ष अधिकार के प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ३७ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक चार आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

मोक्षमार्ग

[रुचि आत्मा का गुण है, इसलिये आत्मा कहीं न कहीं तो रुचि करेगा ही ? और जिस ओर की रुचि करेगा, उस ओर की परिणति होगी। यदि स्वभाव की महिमा जानकर स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव की ओर की परिणति (मोक्षमार्ग) प्रगट होगा, और यदि पर की ओर रुचि करे तो संसार की ओर की विकारी परिणति होगी। परिणतिरहित कोई जीव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अपने स्वभाव-सामर्थ्य की महिमा को यर्थातया जान ले तो उसकी रुचि करे, और ऐसी रुचि करे तो उस ओर परिणति जाकर स्थिर हो जाये, तथा स्वभाव का कार्य-मोक्ष प्रगट हो जाये। संक्षेप में यही मोक्ष का मार्ग समझना चाहिये।] —मोक्ष अधिकार, गाथा २९७

अज्ञानी भले पुकारें, किन्तु.... ?

जब ज्ञानीजन सत्य वस्तुस्वरूप को प्रगट करते हैं, तब वस्तुस्वरूप को न जाननेवाले अज्ञानीजन अपनी कल्पना करके भिन्न प्रकार से ही वस्तुस्वरूप सुनकर उसका विरोध करते हैं। अज्ञानी का यह स्वभाव है। किन्तु सत्य वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है। श्री समन्तभद्राचार्यकृत आप्त-मीमांसा के ११० वें श्लोक की टीका में कहा है कि—

''यहाँ ऐसा जानना कि जो वस्तु है, सो तो प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषयभूत सत्-असत् आदि विरुद्ध धर्म का आधाररूप है, सो अविरुद्ध है, सो अन्यवादि सत्रूप ही है तथा असत्रूप ही है। ऐसा एकान्त कहैं हैं तौ कहो, वस्तु तौ ऐसें हैं नाहीं। वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावैं हैं तौ हम कहा करैं, वादी पुकारैं हैं विरुद्ध है रे विरुद्ध है रे! तौ पुकारो किछु निरर्थक पुकारने में साध्य है नाहीं।''

अर्थ—''यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि-जो वस्तुस्वरूप है, सो तो प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषयभूत, सत्-असत् आदि विरुद्ध धर्म का आधाररूप है, जो कि अविरुद्ध-सत्य है। तथापि अन्यमतवादी उसे एकान्त-सत्रूप अथवा एकांत-असत्रूप भले ही कहें, किन्तु वस्तु तो ऐसी नहीं है। क्योंकि जब वस्तु ही स्वयं अपने अनेकान्तात्मक स्वरूप को प्रगट करती है, तो हम क्या करें ? वादी (अज्ञानी) जन पुकारते हैं कि 'यह तो विरुद्ध है, यह तो विरुद्ध है,' तो वे भले पुकारे उनकी इस निरर्थक पुकार से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है।''

अज्ञानीजन पुकार करते हैं, इसलिये कहीं वस्तुस्वरूप तो बदल नहीं जायेगा ? वस्तुस्वरूप

जैसा है, उसे वैसा ही कहने पर यदि अज्ञानीजन विरोधी पुकार करे तो भले करें, किन्तु जहाँ सत्यवस्तु अपने स्वरूप को ऐसा ही प्रगट करती है, तो ज्ञानी उसे अन्यथा कैसे कह सकते हैं ? इसलिये ज्ञानीजन वस्तुस्वरूप को यथावत् नि:शंकतया घोषित करते हैं।

यहाँ अस्ति-नास्ति आदि धर्मों से वस्तुस्वरूप की बात कही है। उसीप्रकार वस्तुस्वरूप के दूसरे पहलू निम्न-प्रकार हैं:—

ज्ञानीजन कहते हैं कि 'आत्मा जड़ की क्रिया नहीं कर सकता, और जड़ की क्रिया से आत्मा को कोई हानि या लाभ नहीं होता;' तब अज्ञानी पुकार करते हैं कि इससे तो क्रिया का ही लोप हो जाता है। इसप्रकार अज्ञानीजन भले ही चिल्लायें किन्तु आत्मा का वस्तु स्वरूप ही स्वयं यह कहता है कि चैतन्य-वस्तुस्वरूप की क्रिया चैतन्य में ही है, और ज्ञान की स्थिरता ही आत्मा की वास्तविक क्रिया है। मैं जड़ से भिन्न हूँ, जड़ की क्रिया के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये अज्ञानियों की पुकार व्यर्थ है।

जब ज्ञानीजन यह घोषित करते हैं कि 'पुण्य विकार है, पुण्य करते-करते आत्मा का धर्म नहीं होता,' तब अज्ञानीजन इसके विरोध में पुकार उठते हैं कि 'अरे! इससे तो पुण्य ही उड़ गया।' इसप्रकार अज्ञानीजन भले ही चिल्लायें, किन्तु जहाँ पुण्य का और धर्म का सत्यस्वरूप ही ऐसा है, वहाँ ज्ञानी क्या करे ? अज्ञानियों की यह पुकार व्यर्थ है।

जब ज्ञानीजन कहते हैं कि 'निमित्त परवस्तु की उपस्थिति मात्र है, उपादान के कार्य में वह कुछ नहीं करता। निमित्त मिले तो कार्य हो, ऐसा नहीं है; किन्तु उपादान के अपने स्वभाव से ही कार्य होता है'; तब अज्ञानीजन विरोध करते हुए पुकार उठते हैं कि—'इससे तो निमित्त ही उड़ जायेगा'। किन्तु उनकी यह पुकार भी व्यर्थ है, क्योंकि उपादान और निमित्त की मर्यादा ही इतनी है। जहाँ वस्तु स्वयं ही अपने स्वरूप को घोषित कर रही है, वहाँ किसी का विरोध काम नहीं आ सकता। ★

पुनीत सम्यक्दर्शन

''आत्मा है, पर से भिन्न है, पुण्य-पाप रहित ज्ञाता ही है'' इतना मात्र जान लेने से सम्यक्दृष्टित्व नहीं हो सकता, क्योंकि इतना तो अनन्त संसारी जीव भी जानते हैं। जानना तो ज्ञान के विकास का कार्य है, उसके साथ परमार्थ से सम्यक्दर्शन का सम्बन्ध नहीं है।

मैं आत्मा हूँ और पर से भिन्न हूँ—इतना मात्र मान लेना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा में मात्र अस्तित्व ही नहीं है, और मात्र ज्ञातृत्व ही नहीं है; परन्तु आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, वीर्य, इत्यादि अनन्त गुण हैं। उस अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के स्वानुभव के द्वारा जब तक आत्मसंतोष न हो, तब तक सम्यक्दृष्टित्व नहीं होता।

नव तत्त्वों के ज्ञान तथा पुण्य-पाप से आत्मा भिन्न है, ऐसा जो ज्ञान है, सो सबका प्रयोजनभूत स्वानुभव ही है। स्वानुभव की गन्ध भी न हो, और मात्र विकल्प के द्वारा ज्ञान में जो कुछ जाना है, उतने ज्ञातृत्व में ही संतोष मानकर अपने को स्वयं ही सम्यक्दृष्टि माने तो उस मान्यता में सम्पूर्ण परम आत्मस्वभाव का अनादर है। विकल्परूप ज्ञातृत्व से अधिक कुछ भी न होने पर भी, जो जीव अपने में सम्यक्दृष्टित्व मान लेता है, उस जीव को परम कल्याणकारी सम्यक्दर्शन के स्वरूप की ही खबर नहीं है। सम्यक्दर्शन अभूतपूर्व वस्तु है, वह ऐसी मुफ्त की चीज़ नहीं है कि जो विकल्प के द्वारा प्राप्त हो जावे; किन्तु परम पवित्र स्वभाव के साथ परिपूर्ण सम्बन्ध रखनेवाला सम्यक्दर्शन विकल्पों से परे, सहज स्वभाव के स्वानुभव प्रत्यक्ष से प्राप्त होता है। जब तक सहज स्वभाव का स्वानुभव स्वभाव की साक्षी से प्राप्त नहीं होता, तबतक उसी में संतोष न मानकर सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के परम उपाय में निरन्तर जागृत रहना चाहिये-यह निकट भव्यात्माओं का कर्तव्य है। परन्तु 'मुझे तो सम्यक्दर्शन प्राप्त हो चुका है, अब मात्र चारित्रमोह रह गया है'-ऐसा मानकर, बैठे रहकर पुरुषार्थ हीनता का-शुष्कता का सेवन नहीं करना चाहिये। यदि जीव ऐसा करेगा तो स्वभाव उसकी साक्षी नहीं देगा, और सम्यक्दृष्टि के मिथ्या-भ्रम में ही जीवन व्यर्थ चला जायेगा। इसलिये ज्ञानीजन सचेत करते हुऐ कहते हैं कि—''ज्ञान, चारित्र और तप इन तीनों गुणों को उज्वल करने वाली सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनायें एक सम्यक्त्व के विद्यमान भाव में ही आराधक भाव से होती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व की अकथ और अपूर्व महिमा को जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्ति-स्वरूप सम्यग्दर्शन को अनन्तानन्त दुःखरूप अनादि संसार

की आत्यांतिक निवृत्ति के हेतु, हे भव्य जीवो! भक्तिपूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधना करो।'' [आत्मानुशासन, पृष्ठ ९ से]

नि:शंक सम्यक्दर्शन होने से पूर्व संतोष मान लेना और उस आराधना को एक ओर छोड़ देना-इसमें अपने आत्मस्वभाव का और कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शन का महा अपराध और अभक्ति है; जिसके महा दुखदायी फल का वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे सिद्धों के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार मिथ्यात्व के दु:ख का वर्णन नहीं किया जा सकता।

आत्मवस्तु मात्र द्रव्यरूप नहीं, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप है। ''आत्मा अखण्ड शुद्ध है'' जो ऐसा सुनकर मान ले परन्तु पर्याय को न समझे, अशुद्ध और शुद्ध पर्याय का विवेक न करे, उसे सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कदाचित् ज्ञान के विकास से द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को (विकल्प ज्ञान के द्वारा) जान ले, तथापि इतने मात्र से जीव का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वस्तुस्वरूप में एक मात्र ज्ञानगुण ही नहीं परन्तु श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्तगुण हैं, और जब वे सभी गुण अंशत: स्वभावरूप कार्य करते हैं, तभी जीव का सम्यक्दर्शनरूपी प्रयोजन सिद्ध होता है। ज्ञानगुण ने विकल्प के द्वारा आत्मा को जानने का कार्य किया परन्तु तब दूसरी ओर श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप कार्य कर रहा है, और आनन्दगुण आकुलता का संवेदन कर रहा है,—यह सब भूल जाये और मात्र ज्ञान से ही सन्तोष मान ले तो ऐसा माननेवाला जीव संपूर्ण आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञान के एक विकल्प में ही बेच देता है।

मात्र द्रव्य से ही सन्तोष नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि द्रव्य-गुण से महत्ता नहीं किन्तु निर्मलपर्याय से ही सच्ची महत्ता है। द्रव्य-गुण तो सिद्धा के और निगोदिया जीवों के-दोनों के हैं। यदि द्रव्य-गुण से ही महत्ता मानी जाय तो निगोदियापन भी महिमावान क्यों न कहलायेगा? किन्तु नहीं, नहीं, सच्ची महत्ता तो पर्याय से है। पर्याय की शुद्धता ही भोगने में काम आती है; कहीं द्रव्य-गुण की शुद्धता भोगने में काम नहीं आती, (क्योंकि वह तो अप्रगटरूप है-शक्तिरूप है) इसलिये अपनी वर्तमान पर्याय में संतोष न मानकर, पर्याय की शुद्धता को प्रगट करने के लिये पवित्र सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।

''अहो! अभी पर्याय में बिल्कुल पामरता है, मिथ्यात्व को अनन्तकाल की जूठन समझकर इसी क्षण ओक देने की (वमन) कर डालने की आवश्यकता है। जब तक यह पुरानी जूठन पड़ी रहेगी, तब तक नया मिष्ट भोजन न तो रुचेगा और न पच सकेगा''—इसप्रकार जीव को जब तक

अपनी पर्याय की पामरता भाषित नहीं होती, तब तक उसकी दशा सम्यक्त्व के सन्मुख भी नहीं है।

परिणामों में अनेक प्रकार का झंझावात आ रहा हो, परिणति का सहजरूप से आनन्द भाव होने की जगह मात्र कृत्रिमता और भय-शंका के झोंके आते हों, प्रत्येक क्षण-क्षण की परिणति विकार के भार के नीचे दब रही हो, कदापि शांति-आत्म संतोष का लेश मात्र अन्तरंग में न पाया जाता हो, तथापि अपने को सम्यक्दृष्टि मान लेना कितना अपार दम्भ है! कितनी अज्ञानता है, और कितनी घोर आत्मवंचना है!

केवली प्रभु का आत्मपरिणमन सहजरूप से केवलज्ञानमय परम सुखदशारूप ही परिणमित हो रहा है। सहजरूप से परिणमित होनेवाले केवलज्ञान का मूल कारण सम्यक्त्व ही है, तब फिर उस सम्यक्त्व सहित जीव का परिणमन कितना सहज होगा! उसकी आत्मजागृति निरन्तर कैसी प्रवर्तमान होगी!!!

जो अल्पकाल में केवलज्ञान जैसी परम सहजदशा की प्राप्ति कराता है, ऐसे इस कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शन की कल्पना के द्वारा कल्पित कर लेने में अनन्त केवली भगवन्तों का और सम्यक्दृष्टियों का कितना घोर अनादर है? यह तो एक प्रकार से अपने आत्मा की परम पवित्र दशा का ही अनादर है।

सम्यक्त्वदशा की प्रतीति में पूरा आत्मा आ जाता है, उस सम्यक्त्वदशा के होने पर निज को आत्म-साक्षी से संतोष होता है, निरन्तर आत्मजागृति रहती है, कहीं भी उसकी आत्मपरिणति फंसती नहीं है, उसके भावों में कदापि आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आत्म समर्पणता नहीं आ पाती;—जहाँ ऐसी दशा की प्रतीति भी न हो, वहाँ सम्यक्दर्शन हो ही नहीं सकता।

बहुत से जीव कुधर्म में ही अटके हुऐ हैं, परन्तु परमसत्यस्वरूप को सुनते हुऐ भी-विकल्प ज्ञान से जानते हुऐ भी, और यही सत्य है—ऐसी प्रतीति करके अपना आन्तरिक परिणमन तद्रूप किये बिना सम्यक्त्व की पवित्र आराधना को अपूर्ण रखकर उसी में संतोष मान लेने वाले जीव भी हैं; वे तत्व का अपूर्व लाभ नहीं पा सकते।

इसलिये अब आत्मकल्याण के हेतु यह निश्चय करना चाहिये कि अपनी वर्तमान में होने वाली यथार्थ दशा कैसी है; और भ्रम को दूर करके रत्नत्रय की आराधना में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिये। यही परम पावन कार्य है। ★

कितना जीवन व्यतीत करना है ?

हे जीव ! तूने आत्मा को भूलकर देहदृष्टि से तो अनन्त जीवन व्यतीत किये हैं, और उसके बाद भी तेरा भवभ्रमण का दु:ख तो बना ही रहा ! इसलिये अब सत्पुरुषों की आज्ञा में आत्मदृष्टि पूर्वक एक बार तो ऐसा जीवन व्यतीत कर कि जिसके बाद फिर भव ही धारण न करना पड़े।

—पूज्य श्री कानजी स्वामी—

जीवन का कर्तव्य

[श्री समयप्राभृत गाथा २९७ के प्रवचन से]

अध्यात्म तत्व की बात समझने को आने वाले जिज्ञासु के वैराग्य और कषाय की मन्दता अवश्य होती है अथवा यों कहना चाहिये कि जिसे वैराग्य होता है, और कषाय की मन्दता होती है, उसी के स्वरूप को समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। मन्द कषाय की बात तो सभी करते हैं, किन्तु जो सर्व कषाय से रहित अपने आत्मतत्व के स्वरूप को समझकर जन्म-मरण के अन्त की नि:शंकता आ जायो, ऐसी बात जिनधर्म में कही गई है। अनन्त काल में तत्व को समझने का सुयोग प्राप्त हुआ है, और शरीर के छूटने का समय आ गया है, इस समय भी यदि कषाय को छोड़ कर आत्मस्वरूप को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा गया है कि पहले जिज्ञासु जीव को सम्यक्दर्शनपूर्वक मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये, किन्तु यहाँ तो पहले सम्यक्दर्शन प्रगट करने की बात कही जा रही है।

हे भाई ! मानव जीवन की देहस्थिति पूर्ण होने पर यदि स्वभाव की रुचि और परणति साथ में न ले गया तो तूने इस मानव जीवन में कोई आत्मकार्य नहीं किया। शरीर त्याग करके जानेवाले जीव के साथ क्या जानेवाला है ? यदि जीवन में तत्व समझने का प्रयत्न किया होगा तो ममतारहित स्वरूप की रुचि और परिणति साथ में ले जायेगा और यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया तथा पर का ममत्व करने में ही जीवन व्यतीत कर दिया तो उसके साथ मात्र ममताभाव की आकुलता के अतिरिक्त दूसरा कुछ जानेवाला नहीं है। किसी भी जीव के साथ वस्तुऐं नहीं जाती किन्तु मात्र अपना भाव ही साथ ले जाता है।

इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिये। जिस चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया है, वह सदा आत्मा में ही है। जिसने चेतना के द्वारा शुद्ध आत्मा को जान लिया है, वह कभी भी परपदार्थ को या परभावों को आत्मस्वभाव के रूप में ग्रहण नहीं करता, किन्तु शुद्धात्मा को ही अपनेरूप में जानकर उसी का ग्रहण करता है। इसलिये वह सदा अपने आत्मा में ही है। यदि कोई पूछे कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वर्गादिक बाह्य क्षेत्र में नहीं किन्तु अपने आत्मा में ही है। जिसने कभी किसी परपदार्थ को अपना नहीं माना, और एक चेतनास्वभाव को ही निजस्वरूप से अंगीकार किया है, वह चेतनास्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ जायेगा! जिसने चेतना के द्वारा अपना ग्रहण किया है, वह सदा अपने आत्मा में ही टिका रहता है। जिसमें जिसकी दृष्टि पड़ी है, उसी में वह सदा बना रहता है। वास्तव में कोई भी जीव अपनी चैतन्य भूमिका में जैसे भाव करता है, वैसे ही भावों में रहता है। ज्ञानी ज्ञानभाव में और अज्ञानी अज्ञानभाव में रहता है। बाहर से चाहे जो क्षेत्र हो किन्तु जीव अपनी चैतन्य भूमिका में जो भाव करता है, उसी भाव को वह भोगता है, बाह्य में संयोग को नहीं भोगता। ★

☆ ☆ ☆

प्रत्येक द्रव्य और उसकी पर्याय की स्वतंत्रता की घोषणा

[पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

१— प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायों का पिंड है, और इसलिये वह तीनों काल की वर्तमान पर्यायों के योग्य है, तथा पर्याय एक-एक समय की है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में उस उस समय की पर्याय के योग्य है; और उस-उस समय की पर्याय उस-उस समय में होने योग्य है, इसलिये होती है, किसी द्रव्य की पर्याय इससे लौटती नहीं है।

२— मिट्टी नामक द्रव्य अपनी त्रिकाल की पर्यायों के योग्य है, तथापि यदि यह माना जाये कि उसमें तीनों काल में एक घड़ा होने की ही योग्यता है, तो मिट्टी नामक द्रव्य एक पर्याय में ही सीमित हो जाये, और उसके द्रव्यत्व का नाश हो जाये।

३— जो यह कहा जाता है कि मिट्टी नामक द्रव्य तीनों काल में घड़ा बनने के योग्य है, यह तो परद्रव्यों से मिट्टी को अलग करके यह बताने के लिये कहा है कि मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य, मिट्टी का घड़ा बनने के योग्य किसी काल में नहीं है। किन्तु जिस समय मिट्टी नामक द्रव्य की

तथा उसकी पर्याय की योग्यता का निर्णय करना हो, तब वह मानना मिथ्या है कि मिट्टी नामक द्रव्य तीनों काल में घड़ा होने के योग्य है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो यह सिद्ध हुआ कि मिट्टी नामक द्रव्य की जो-जो पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों के होने योग्य मिट्टी नामक द्रव्य नहीं है। फिर भी वे होती हैं, जो कि सर्वथा मिथ्या है।

४— उपरोक्त कारणों से यह मानना मिथ्या है कि मिट्टी नामक द्रव्य त्रिकाल घड़ा होने योग्य है, और जब तक कुम्हार नहीं आता, तब तक घड़ा नहीं बनता। किन्तु मिट्टी नामक द्रव्य की पर्याय जिस समय घड़ारूप होने योग्य है, वह एक समय की ही योग्यता होने से उसी समय घड़ारूप होती है, उससे आगे-पीछे नहीं होती और उस समय कुम्हार इत्यादि निमित्त स्वयं ही योग्य स्थान पर होते हैं।

५— प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्याय का स्वामी होता है, इसलिये उसकी पर्याय उस उस समय की योग्यतानुसार स्वयं होती ही रहती है; इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अपनी पर्याय प्रति समय उस-उस द्रव्य के ही अधीन है, अन्य किसी द्रव्य के नहीं।

६— जीवद्रव्य त्रिकाल पर्यायों का पिंड है, इसलिये वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायों के योग्य है, और प्रगट पर्याय एक समय की होने से स्वयं उस-उस पर्याय के योग्य है।

७— यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य एक समय का ही हो जाये। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का स्वामी है, इसलिये उसकी वर्तमान होनेवाली एक-एक समय की पर्याय उस-उस द्रव्य के आधीन है।

८— जीव को पराधीन कहा जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे परद्रव्य अपने आधीन कर लेते हैं अथवा परद्रव्य उसे अपना खिलौना बना लेते हैं, किन्तु उस-उस समय की पर्याय को जीव स्वयं परद्रव्य की पर्याय के अधीन होकर करता है। परद्रव्य अथवा उसकी कोई पर्याय, जीव को कभी भी आश्रय दे सकती है, उसे खिला सकती है, और हैरान कर सकती है, अथवा सुखी-दुखी कर सकती है, इत्यादि मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

९— प्रत्येक द्रव्य सत् है, इसलिये वह द्रव्य-गुण और पर्याय से भी सत् है, एवं इसीलिये वह सदा स्वतंत्र है। जीव जो पराधीन होता है, सो वह भी स्वतंत्रतया पराधीन होता है, अर्थात् कोई परद्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतंत्र नहीं बनाती।

१०— इसप्रकार वीतराग देव ने प्रत्येक द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्याय की सम्पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा की है। ★

अष्टप्राभृत-प्रवचन

[श्री अष्टपाहुड़ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

१— ॐ नमः सिद्धेभ्यः — उन सिद्धों को नमस्कार हो कि जो अनंत आत्मस्वरूप को प्राप्त करके अनुभव कर रहे हैं, अवस्था से भी वह आत्मद्रव्य निर्विकल्प शुद्ध हो गया है।

२— कुंदकुंदाचार्यदेव ने इस अष्टप्राभृत की रचना की है, अष्टप्राभृत का अर्थ है आठ प्रकार की भेंट। शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये यह भेंट है। जो इस प्राभृत में कहे गये स्वरूप को समझता है, उस पर आत्मस्वरूप राजा प्रसन्न हो जाता है, और उसे केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

३— यदि कोई यों कहे कि इस काल में कोई दर्शन पूर्ण सत्य नहीं हो सकता, इसलिये समन्वय करना चाहिये; तो हम उससे पूछते हैं कि हे भाई! तूने स्वयं जो अभिप्राय बनाया है, वह पूर्ण सत्य है या वह भी अपूर्ण है? (१) यदि तू यह कहे कि मेरा वह अभिप्राय पूर्ण सत्य है तो तेरा यह अभिप्राय स्ववचनबाधित सिद्ध होता है, अर्थात् ''पूर्ण सत्य कोई हो नहीं सकता'' तेरा यह कथन असत्मय सिद्ध हो जाता है और (२) यदि तू यह कहे कि मेरा मत अपूर्ण सत्य है तो तेरी उस अपूर्णता में दूसरा कुछ तेरी जानकारी से शेष रह जाता है जो कि पूर्ण सत्य है। पूर्ण सत्य अनेकांत जैनदर्शन है, जैनदर्शन जयवंत वर्तता है।

४— इस हुंडावसर्पिणीकाल में जड़-वक्र बुद्धिवाले जीव हो गये हैं, उनके कारण सनातन जैन निर्ग्रंथ पवित्र मार्ग में भी बुद्धिकल्पित मत प्रवर्तित हुये, उन्होंने पूज्य श्री देव-गुरु-धर्म का स्वरूप विपरीत कल्पित किया है। उन्होंने यह मान रखा है कि पूर्ण परमात्मदशा को प्राप्त हुये श्री अरिहंतदेव के आहारादि होता है; परमात्मदशा के साधक संतमुनि श्रीगुरु सवस्त्र होते हैं तथा स्त्री को मुक्ति हो सकती है, उनके बुद्धिकल्पित मतों में ऐसी महा विपरीत प्ररूपणाऐं पाई जाती हैं। ये प्ररूपणाऐं सर्वोत्कृष्ट पवित्र पदों को हीन बताने वाली हैं, उनके देव-गुरु-शास्त्र (तीनों) के स्वरूप में भूल है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्य वस्तुस्वरूप को स्पष्ट किया है, उन्होंने किसी के द्वेष से या किसी के पक्ष से कथन नहीं किया। जिज्ञासुओं को मध्यस्थ होकर सत्य को समझना चाहिए।

कुछ लोग यह मानते हैं कि भगवान महावीर को ब्राह्मणी के गर्भ से निकालकर त्रिशलादेवी के गर्भ में रखा, किन्तु ऐसा मानने से तो भगवान महावीर के दो बाप मानने पड़ेंगे।

तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट पद हो सकता है तो वह तीर्थंकर पद है, उस महान् पदवी के धारक तीर्थंकरदेव के दो बाप कदापि नहीं होते। किसी को 'दो बाप का है' कहना तो बड़ी भारी गाली है, तो फिर तीर्थंकर जैसे महान् पुरुष के दो बाप मानना तो महा भूल है, ऐसा माननेवाले को तत्व की खबर नहीं है।

५— जो देव-गुरु-शास्त्र के यथार्थ स्वरूप को ही नहीं समझता, उसके आत्मा की दृढ़ता नहीं होती। सत्य का स्थापन करने और विपरीतता को नष्ट करने के लिये इस शास्त्र की रचना की गई है, इसलिये हे भव्य जीवो! अब स्पष्टीकरण से समझने का समय है, किसकी यथार्थ युक्ति है, और किसकी दूषित युक्ति है ?—यह निर्णय करके सत्य को समझना चाहिये।

६— जिन का अर्थ है कर्म शत्रुओं को जीतनेवाला। अपने वीतरागभाव और केवलज्ञान को नष्ट करनेवाले राग-द्वेष-अज्ञान ही शत्रु हैं; जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के द्वारा उन शत्रुओं जीतता है, सो जिन है। जिनत्व का प्रारंभ सम्यग्दृष्टि जीव से है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के स्वभाव की प्रतीति करके, अज्ञान, मोह को जीतकर राग-द्वेष का स्वामी नहीं होता, इसलिये हजारों रानियों के संयोग में रहने पर भी वह 'जिन' है। सम्यग्दर्शन पूर्वक विशेषराग का अभाव करके जो स्वरूप में लीन हैं—ऐसे गणधरादि संतमुनि 'जिनवर' हैं और सर्वथा राग-द्वेष-अज्ञान का नाश करके जो पूर्ण शुद्धात्मदशा को प्राप्त हुये हैं, वे जिनवर में भी श्रेष्ठ ऐसे 'जिनवर वृषभ' हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।

फिर वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो, वर्द्धमान कहने से अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी को नमस्कार है। अथवा वे समस्त तीर्थंकर आत्मस्वरूप की लक्ष्मी के द्वारा वर्द्धमान ही थे; इसलिये उन अनंत तीर्थंकरों को नमस्कार हो।

७— ऐसा नमस्कार करनेवाले ने कितना प्रतीति में लिया ? प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण स्वभाव है; उस स्वभाव को समझनेवाले सम्यग्दृष्टि 'जिन' हैं; उस स्वभाव की विशेष रमणतारूप चारित्रदशा वाले मुनि 'जिनवर' हैं तथा स्वभाव की पूर्ण एकाग्रता करके केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले 'जिनवरवृषभ' हैं, जो कि अनन्त हो गये हैं; इसप्रकार वस्तुस्वभाव और सम्यग्दर्शन, चारित्र, केवलज्ञान इत्यादि निर्मल दशाओं को तथा उन दशाओं को प्राप्त करनेवाले अनंत केवली भगवंतों की प्रतीति का भाव जिसने अपनी एक पर्याय में समाविष्ट कर लिया है, उसी ने यथार्थ नमस्कार किया है—मैं भी अब परिपूर्णदशा को प्राप्त करने के लिये तैयार हुआ हूँ, इसप्रकार अपने भाव की प्रतीति सहित नमस्कार किया है।

—गाथा २—

८— सर्वज्ञ भगवान ने गणधरादिक शिष्यों को जिनधर्म का उपदेश किया है, उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। उसे अपने कानों से सुनने के पश्चात् दर्शनरहित पुरुष को वंदन करना योग्य नहीं है।

जो यह मानता है कि पुण्य से धर्म होता है–वह दर्शनरहित है, उसे नमस्कार करने से अधर्म होता है, पाप होता है, जैनदर्शन की विराधना होती है और अपने आत्मा का अपराध होता है। धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन है; जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ त्याग आचार, ज्ञातृत्व, वैराग्य, प्रतिमा इत्यादि सब मिथ्या हैं।

९— प्रथम धर्म सम्यग्दर्शन ही है, सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है। सब धर्मों का अर्थ जैन और जैनेत्तर (सब) नहीं समझना चाहिये, परन्तु आत्मा के ज्ञान, चारित्र इत्यादि सभी धर्म, समझना चाहिये। सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के मत के अतिरिक्त अन्य कल्पित मतों में कहीं भी धर्म का अंश तक नहीं है और सर्वज्ञ के मत में भी सम्यग्दर्शन के बिना कदापि धर्म नहीं है।

एक जैनमार्ग में ही धर्म है, और वह भी एक ही प्रकार का है, उस धर्म का—ज्ञानधर्म, चारित्रधर्म, त्यागधर्म, संयमधर्म, तपधर्म, भक्तिधर्म, दयाधर्म, प्रभावनाधर्म, दानधर्म इत्यादि सर्व धर्म का मूल एक सम्यग्दर्शन ही है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो वे कोई धर्म नहीं होते।

१०— **प्रश्न** - त्याग से मुक्ति होती है या व्यवहार से ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन से ही मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त त्याग से या व्यवहार से किसी भी तरह मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ त्याग या व्यवहार हो ही नहीं सकता। जैसे जड़ के बिना पेड़ नहीं होता, नींव के बिना मकान नहीं होता; वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा सत्तास्वरूप है, उसका यथार्थ भास होना चाहिये। जिसे आत्मस्वरूप की पर से भिन्नता की प्रतीति न हो, उसके आत्मा का किसी प्रकार का धर्म नहीं होता।

११— सम्यग्दर्शन ही धर्म है, और पूजा इत्यादि राग की क्रिया धर्म नहीं है। शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव करना चाहिये—ऐसा नहीं कहा है, परंतु यदि कोई शुभराग में धर्म माने तो वह सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि है, उसे नमस्कार करने से मिथ्यात्व का महापाप लगता है। यदि कोई धर्म को समझे बिना पुण्य करे तो वह सीधा नरक-निगोद में न जाकर, पहले स्वर्गादि में जाकर, फिर नीचगति में परिभ्रमण करता है।

भगवान ने दर्शनरहित धर्म नहीं किया है। व्रत या प्रतिमा को भगवान ने धर्म का मूल नहीं बताया। सम्यग्दर्शन का स्वरूप जाने बिना पुण्य से धर्म होता है, इत्यादि माननेवाले मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव हैं, वे जैनदर्शन के मतावलंबी नहीं हैं।

१२— सत्य की यथार्थ परीक्षा किये बिना जहाँ-तहाँ वंदनादि करने का शास्त्र निषेध करता है। यहाँ पर के लिये चर्चा नहीं है। परजीव का मिथ्यात्व तो उसके पास रहा परंतु जिज्ञासु जीव को स्वयं धर्म-अधर्म की परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये। सत्य का निर्णय कराने के लिये ऐसा समझाया है। कहावत है कि 'बिगड़ा हुआ दूध छाछ का भी काम नहीं देता' अर्थात् जो दूध फट गया हो तो वह खाने के काम में नहीं आता, किन्तु यदि मठा (छाछ) ठीक हो तो उसके साथ रोटी खाई जा सकती है; उसीप्रकार आत्मस्वरूप की प्रतीति के बिना चाहे त्यागी या साधु नाम भले धरावे, परंतु वे श्रद्धा भ्रष्ट होने से फटे हुये दूध के समान हैं। उनके पास से धर्म की आशा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि वे स्वयं ही धर्मरहित हैं। शरीर की क्रिया से आत्मा के परिणाम सुधरते हैं, ऐसा माननेवाले अज्ञानी को नमस्कार करने से पाप होता है। परंतु कोई जीव सम्यग्दर्शनसहित हो किन्तु व्रत, त्याग इत्यादि रहित हो तो वह अच्छी छाछ की भाँति धर्मात्मा है, वंदनीय है।

भगवान ने धर्म का मूल सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिये वर्षीतप से या रुपया खर्च करने से धर्म नहीं होता, तथा वस्त्र के संयोग के साथ धर्म का संबंध नहीं है, यदि सम्यग्दर्शनरूपी इकाई हो तो धर्म होता है।

१३— यदि जैनमत में भी मतमतांतर मालूम हों तो सत्य का निर्णय करना चाहिये। मतमतांतर उसे मालूम होते हैं, जो सत्यमार्ग का स्वरूप नहीं समझता, किन्तु यथार्थ में जैनमत में मतमतांतर नहीं है। सनातन जैनदर्शन के अतिरिक्त जो कल्पित मत अपने को जैन मानते हैं, वे वास्तव में जैनमत ही नहीं हैं, किन्तु वस्तुस्वरूप को समझे बिना उन्होंने अपने गोल बना रखे हैं।

१४— यदि किसी को ऐसा मालूम हो कि इसके प्रसिद्ध करने से क्लेश होगा, सो बात नहीं है। यह सत्य है, सत्य को समझने से क्लेश हो ही नहीं सकता। प्रत्युत क्लेश दूर हो जाता है। और जो सत्य का विरोध करते हैं, वे तो सदा क्लेश में ही पड़े हुए हैं। इसलिये परम सत्य की घोषणा करने से किसी को हानि हो ही नहीं सकती।

१५— इसलिये आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि हे सकर्ण भव्यजीवों! यदि तुम्हें आत्मा की पहिचान हो तो 'धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है', इसप्रकार अपने कानों से सुनने के बाद धर्मरहित

पुरुष को नमस्कार मत करो। धर्मरहित जीव नमस्कार करने योग्य नहीं हैं। जो इस बात को समझते हैं, उन्हें ही हम सकर्ण कहते हैं, पर से जो इसे नहीं समझते और अज्ञानी, कुलिंगी, दर्शनरहित को नमस्कार करते हैं, उन्हें हम सकर्ण ही नहीं कहते। जो कानों से धर्म का स्वरूप सुनकर उसे नहीं समझा, उसे हम कान ही नहीं कहते। ऐसे जीव कर्ण-रहित हैं, मिथ्यात्व का आदर करके अल्पकाल में वे ऐसी एकेन्द्रियादि दशा में जायेंगे कि जहाँ कान नहीं होते। इसलिये हे श्रोता सत्पुरुषो! तुम धर्म का और धर्मात्म का स्वरूप पहचानकर उसका ही आदर करो।

१६— सम्यग्दर्शन जगत में सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु है। सम्यग्दर्शन की महिमा अपूर्व है, उसका निश्चय ही संसार को कठिन है। अनंतकाल से विपरीत मान्यता में ही परिभ्रमण कर रहा है, बाह्य की बातें ठीक मानता है, परंतु आत्मा के धर्म के लिये बाह्य क्रिया की बात ही नहीं है, आत्मा कौन है, इसकी पहचान करना चाहिये।

१७— अहा! यह बात सुनकर किस जीव के उत्साह जागृत नहीं होता! जैसे प्रद्युम्नकुमार को देखकर उसकी यथार्थ माता रुक्मिणी के स्तन में दूध भर आया, वैसे ही जिज्ञासु जीवों के अपने सम्यग्दर्शन की बात सुनकर रोम-रोम में उत्साह भर जाना चाहिए, और यथार्थ निर्णय करके उस सत्य के निर्णय के बल से केवलज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिये।

१८— दर्शनरहित जीवों को नमस्कार न करने से नम्रता गुण का लोप किंचित्मात्र नहीं होता, परन्तु उसी में धर्म की सच्ची विनय है। दर्शनरहित अधर्मियों को नमस्कार करना धर्मात्माओं का अनादर है अर्थात् अपने ही धर्म का अनादर है।

१९— इस जगत् में मिथ्यात्व और मिथ्यात्व की अनुमोदना का पाप सबसे बड़ा है।

२०— बारह वर्ष का बालक अपने पिता के पैर तो पड़ता है परंतु वह यदि ८० वर्ष के बूढ़े भंगी के अथवा किसी बड़े राज्याधिकारी के भी पैर नहीं पड़ता तो उससे उन्हें अविनय नहीं मालूम होती, और वह बालक भी स्वयं उसमें अविनय नहीं मानता। इसीप्रकार यदि किसी जीव ने अज्ञान दशा में बिना समझे कुदेव-कुगुरु को नमस्कार किया हो, परंतु यथार्थ समझ के पश्चात् यदि स्वयं बारह वर्ष का हो तो भी मिथ्यादृष्टि, कुलिंगधारी, कुगुरुओं को या कुदेव को वंदनादि नहीं करता, और इसलिये उसमें अविनय नहीं समझता। तथा अन्य समझदार लोग भी उसे अविनयी नहीं समझते। यह बात किसी व्यक्ति के तिरस्कार के लिये नहीं है, परंतु यह तो सत् का विवेक है। सत् का विवेक किये बिना संसार से छुटकारा नहीं हो सकता।

जो गुण में बड़े होते हैं, वे ही गुण-बुद्धि से वंदनीय हैं और वे ही गुण के निमित्त हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, गुणरहित हैं, जो उन्हें गुण में बड़ा मानकर वंदना, नमस्कार करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर में छोटे-बड़ेपन के साथ धर्म का कोई सम्बंध नहीं है।

२१— यदि इस जड़ शरीर सम्बंधी बुद्धि को दूर कर दिया जाय तो भीतर ज्ञानस्वरूप अरूपी आत्मा सभी समान हैं, और सभी समझने योग्य हैं। सभी आत्मा अनादि-अनन्त हैं, जो आत्मा को समझता है, वह बड़ा और जो आत्मा को नहीं समझता वही छोटा है।

२२— अज्ञानी-कुगुरु ऐसा उपदेश देते हैं कि अभी तुम आत्मा की बात नहीं समझ सकते, इसलिये तुम्हें अभी व्रतादि करना चाहिए। इसप्रकार वे आत्मा को समझने का ही निषेध करते हैं। यदि आत्मा समझ में नहीं आ सकता तो फिर संसार तो अनादि काल से समझा हुआ ही है, भला उसमें तूने कौनसी नवीन बात कही है ? आत्मा की बात तुम्हें समझ में नहीं आ सकती, इसका अर्थ यह हुआ कि तुम सब मूढ़ अज्ञानी रहने योग्य हो। ऐसे उपदेशकों को जो गुरु मानते हैं और उन्हें नमस्कारादि करते हैं, वे मिथ्यात्व को ही वंदन करते हैं और मिथ्यात्व-पाप को ही पुष्ट करते हैं।

२३— **प्रश्न** - यदि कोई कहे कि पहले जिसने अज्ञानावस्था में किसी को गुरु मान लिया हो, वह यदि सन्मुख मिल जाय तो उसे नमस्कार करना चाहिये या नहीं ?

समाधान- अरे भाई ! पहले अज्ञानदशा में भैंसा भी अनंतबार तेरा बाप हो चुका है, तो फिर भैंसे को नमस्कार क्यों नहीं करता ? यह कहा जा सकता है कि वह पर्याय बदल गई है, इसलिये उसमें विवेक पाया जाता है। तो यहाँ भी अब अज्ञानदशा बदलकर ज्ञानदशा हो गई, सो अब कदापि अज्ञानी-कुगुरु इत्यादि को नमस्कार नहीं करना चाहिये। यदि पहले की तरह ही प्रवृत्ति करता रहे तो अज्ञानदशा और ज्ञानदशा में अंतर ही क्या रहा ? जिसे गुण-अवगुण का निर्णय होता है, उसे यथार्थ-अयथार्थ का विवेक हुये बिना नहीं रहता।

२४— प्रभु ! अनंतकाल में आत्मस्वरूप समझने का सुयोग प्राप्त हुआ, फिर भी सम्यग्दर्शन के द्वारा सत्य को नहीं समझे तो फिर तेरा कोई शरणभूत नहीं है; पुण्य-पापरहित चैतन्यस्वभाव की प्रतीति के बिना तेरे त्याग इत्यादि सब व्यर्थ हैं, इससे संसार-दुःख का कभी अंत नहीं होगा।

२५— जैसा आत्मस्वभाव है, वैसी ही उसकी प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है; यही अहिंसा-सत्य इत्यादि धर्म का मूल है। वस्तुस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीव के कदापि अहिंसा या सत्य हो ही नहीं सकता, प्रत्युत अज्ञान के कारण

मिथ्यात्वरूप महाहिंसा और असत्य का ही निरंतर सेवन होता रहता है। आत्म-प्रतीति के बिना लौकिक सत्य भी हिंसा ही है। यह मानना कि मैं परजीवों का कुछ कर सकूंगा, सो मिथ्यात्व है, जो कि सर्व पापों का मूल है।

२६— जिस जीव के पास सम्यग्दर्शन नहीं हैं, उसके पास दूसरा कोई धर्म नहीं है, और उससे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म का निमित्त नहीं है। जिसमें धर्म नहीं है, उसे जो धर्म का निमित्त बनाना चाहता है, वह जीव उससे भी हीन तीव्र मिथ्यादृष्टि बनना चाहता है। स्वतंत्र आत्मा की श्रद्धा के बिना द्रव्यलिंगी मुनि होने से भी क्या लाभ है ? स्वभाव की श्रद्धा से रहित जीव के पास से तू क्या लेना चाहता है ? जो अधर्मी है, उसके पास से तो अधर्म का लाभ होता है, इसलिये धर्मरहित जीव को नमस्कार करने से कोई लाभ नहीं है।

२७— यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत जीव मिथ्यादृष्टि है, इसलिये उसे नमस्कार करनेवाले को पाप लगता हो, सो बात नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता, परंतु धर्म से रहित को वंदन करनेवाले जीवों के अपना उपादानभाव ही मिथ्या है, उसके उपादान में ही अधर्म की रुचि है, इसलिये निमित्त में भी वह अधर्मी को नमस्कार करता है।

२८— त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव धर्मपिता हैं, उन्होंने जिस धर्म का वर्णन किया है, उससे विरुद्ध कहनेवाले सब वीतराग के शत्रु हैं, ऐसों को धर्मगुरु मानना सो 'पिता के शत्रु को भोज देने के समान हैं' जो तीर्थंकर भगवान के द्वारा कहे गये तत्त्व को विपरीतरूप से मानात है और उसका आदर-विनय करता है, वह वीतराग के शत्रु का आदर करता है तथा स्वयं ही वीतराग का शत्रु है। वास्तव में उन आत्माओं को अपने वीतरागभाव का प्रेम नहीं है, किन्तु वीतराग के शत्रु मिथ्यात्व का प्रेम है, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि को नमस्कार करते हैं।

२९— यथार्थ को समझने की शक्ति पशु-पक्षियों में और मेंढ़क इत्यादि प्राणियों में भी होती है, तो फिर मनुष्य तो समझ ही सकता है, इसलिये जो सत्य बात डंके की चोट बाहर आई है, उसको मिलाकर निर्णय करना चाहिये।

३०— आत्मा को अज्ञान तथा पुण्य-पापरूपी संसार दुःख से निकालकर जो ज्ञानस्वभाव के सुखस्थान में स्थापन कर दे, सो ही धर्म है।

सर्वज्ञदेव की परम्परा से जो जिनमत प्रवर्त रहा है, उसमें धर्म के स्वरूप का यथार्थ निरूपण है, उसमें निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार से धर्म का निरूपण किया है। धर्म की प्ररूपणा चार

प्रकार से है—(१) वस्तुस्वभावरूप धर्म, (२) उत्तम क्षमादि दस प्रकार धर्म, (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और (४) जीवरक्षारूप धर्म। यदि निश्चय से विचार करें तो इन चारों प्रकारों में शुद्ध चेतनारूप धर्म एक ही प्रकार का है, वह यहाँ समझाते हैं:—

३१— **(१) वस्तुस्वभावरूप धर्म**—जो दर्शन-ज्ञान परिणाममयी चेतना है, सो जीव वस्तु का परमार्थस्वभाव है। जब उस चेतना का परिणाम सर्व विकाररहित शुद्ध-चेतनारूप परिणमता है, तब वह धर्म है। इसप्रकार जो वस्तु का स्वभाव है, सो धर्म है—ऐसा कहने से शुद्ध चेतनारूप धर्म सिद्ध होता है।

यहाँ शुद्ध चेतना परिणाम को ही धर्म कहा है, जितनी परजीव की दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि की शुभ लगन या हिंसादि की अशुभ लगन उठती है, वह सब अधर्मभाव है। देहादि की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता, परन्तु जो शुभपरिणाम करता है, सो भी धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्ध-चेतनामय है, अर्थात् पुण्य-पाप का जो भाव होता है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है, परन्तु उन विकारभावों का भी मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञाता-दृष्टापन ही मेरा स्वरूप है, ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञान-दर्शनमय चेतना की जो शुद्धपर्याय हैं, सो ही धर्म है। धर्म, द्रव्य या गुण नहीं है परन्तु शुद्धपर्याय है। धर्म के चार प्रकार के कथन में शुद्धपर्याय का वास्तव में एक ही प्रकार है। जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप से परिणमित होती है, उतने अंश में धर्म है और जितने अंश में पुण्य-पाप के विकाररूप परिणमित होती है, उतना अधर्म है। जो शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, सो तो बिल्कुल बहिर्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, किन्तु यहाँ तो जो पुण्य में धर्म मानता है, सो भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य और देह की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता-दृष्टापन ही मेरा यथार्थ स्वरूप है-इसप्रकार जाननेवाले ज्ञानी को भी निम्न दशा में पुण्य-पाप के परिणाम अवश्य होते हैं, परन्तु वे ऐसा समझते हैं कि पुण्य-पाप के विकाररहित शुद्ध चेतनापरिणति में जितनी स्थिरता करूंगा, उतना धर्म है, और चेतना का जितना बहिर्मुख झुकाव होता है, वह सब अधर्मभाव है। निर्मलपर्याय का प्रगट होना ही धर्म है। वास्तव में तो धर्म पर्याय है, परन्तु शुद्धपर्याय द्रव्य के साथ अभेदत्व धारण करती है, इसलिये अभेदरूप से वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है। प्रथम, पुण्य-पापरहित स्वभाव की प्रतीति होने पर जब सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है, तब चेतना के परिणाम आंशिक शुद्ध और आंशिक अशुद्ध होते हैं। ज्ञानी शुद्धपरिणाम में ही धर्म समझते हैं, इसलिये वे स्वभाव में अशुद्धपरिणाम को स्वीकार नहीं करते। अर्थात् शुद्ध-पुण्य-पापरहित स्वभाव की स्थिरता के द्वारा

क्रमशः चारित्र की पूर्णता करते हैं; जब पूर्ण शुद्ध चेतनापरिणाम प्रगट होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है, और पुण्य-पाप का अभाव हो जाता है।

'शुद्ध चेतनारूप धर्म' कहने से ही यों सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन के अलावा दूसरा जो कुछ कर्तृत्व मानना, सो अधर्मभाव है।

मात्र ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव को माना, सो इसमें पर के कर्तृत्व की बात ही कहाँ आई? अरे! ज्ञान में शुभ विकल्प भी कहाँ है? विकल्परहित जानना-देखना ही चेतना का स्वभाव है, और यह विकाररहित शुद्ध चेतना ही धर्म है।

३२—**(२) उत्तमक्षमादि दशधर्म**—आत्मा, क्रोधादि-कषायरूप से परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, यही उत्तम क्षमादिरूप धर्म हैं, इसप्रकार उत्तम क्षमादिरूप धर्म कहने पर भी शुद्ध चेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें चेतना के परिणाम को पुण्य-पाप से छुड़ाकर ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर करने की बात है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञान के लिये न तो कोई शत्रु है और न मित्र, न सज्जन है, न दुर्जन-ऐसी प्रतीतिपूर्वक जहाँ स्वरूप की स्थिरता हो, वहाँ ही उत्तमक्षमा हो सकती है। 'अपने को सहन करना सीखना चाहिये' इसप्रकार परद्रव्यों को सहन करना माने और स्वभाव की प्रतीति के बिना क्षमा रखे तो वह उत्तमक्षमा नहीं है। जानना मेरा स्वभाव है, मेरा ज्ञान सर्व पदार्थों को यथार्थतया जाननेवाला है, जानने में यह अच्छा और यह बुरा है, ऐसी वृत्ति ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ऐसी प्रतीतिपूर्वक मान-अपमान की वृत्ति छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना ही शुद्ध चेतनारूप धर्म है। यहाँ मुख्यरूप से मुनि के लक्ष से बात की है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी आंशिक शुद्धचेतना होती है। प्रतीतिरूप से उसके सर्व द्रव्यों के प्रति क्षमा रहती है। यदि परलक्ष से क्रोध या क्षमा की अल्प लगन हो जाये तो उसे ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते; इसलिये उसके निरंतर आंशिक उत्तमक्षमारूप धर्म रहता है। आत्मस्वभाव की प्रतीति के बिना द्रव्यलिंगी जैन निर्ग्रंथ मुनि हो और उसके शरीर पर तेल डालकर जीवित जला दिया जाय तो भी वह क्रोध का भाव न करेंगे किन्तु उनके उत्तम क्षमा नहीं कही जा सकती; क्योंकि क्षमा की शुभवृत्ति को वह अपना स्वरूप मानते हैं, शुद्ध चेतनापरिणाम की उन्हें खबर नहीं है। शुभपरिणाम से भी शुद्ध चेतना भिन्न है—ऐसी प्रतीति के बिना धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानस्वरूप में किसी भी राग का अंश नहीं है; अशुभ या शुभ दोनों प्रकार के राग से रहित शुद्ध चेतना ही धर्म है। शुभभाव विकार है, उसे जो धर्म में सहायक मानता

है, उसके मिथ्यात्व का महापाप है। पुण्यभाव में भी लोभ कषाय की मुख्यता है, यह पुण्यभाव, अशुद्ध चेतना है; शुद्धचेतनारूप धर्म तो एक ही प्रकार का है, उसमें शुभ-अशुभ विकल्प को भी स्थान नहीं है।

इसप्रकार वस्तुस्वभावरूप धर्म तथा उत्तम क्षमादिरूप धर्म इन दोनों में शुद्धचेतना के परिणामरूप एक ही प्रकार सिद्ध हुआ।

३३—**(३) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में एक शुद्ध ज्ञान-चेतना का ही परिणाम है, इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भी शुद्ध ज्ञान-चेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है। शुद्ध ज्ञान-चेतना में न तो पुण्य-पाप है और न शरीर इत्यादि की क्रिया; मात्र शुद्ध स्वभावभाव है, यही धर्म है। इसप्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म कहने पर भी शुद्धचेतनारूप धर्म सिद्ध हुआ।

३४—**(४) जीवदयारूप धर्म**—लोग जीवदया के नाम से शुभराग में धर्म मान रहे हैं, परन्तु जीवदया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते। क्रोधादि कषाय के वश से अपनी तथा परजीव की हिंसा का भाव न करना, सो जीवदया है। सबसे बड़ा क्रोध तो मिथ्यात्व है और यही वास्तव में जीवहिंसा है। मिथ्यात्व को छोड़े बिना कभी भी जीवहिंसा नहीं रुक सकती। स्वजीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है, और जब स्वयं क्रोधादि के द्वारा स्वजीव की हिंसा नहीं की, तब क्रोध के अभाव के कारण परजीव के मारने का भाव भी नहीं आया, इसलिए परजीव की दया भी आ जाती है। परन्तु स्वजीव की दया कब हो सकती है? जो जीव, परद्रव्य से धर्म मानता है, वह जीव विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है। मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है, ऐसा जानने के बाद दया की शुभ भावना को भी छोड़कर स्वरूप में हो गया और शुद्ध ज्ञान-चेतना के अनुभव में लीन हुआ, सो ही जीवदया धर्म है। अर्थात् इसमें भी चेतना का शुद्ध परिणाम ही धर्म सिद्ध हुआ। वास्तव में परजीव को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, मात्र भाव कर सकता है। किसी जीव को दुःख नहीं देना चाहिये, इसमें स्वयं भी अन्तर्भूत है; इसलिए स्व को भी दुःखी न करना, सो वास्तव में दया है। अशुभपरिणाम के समय स्वयं तीव्र दुःखी होता है और दया इत्यादि के शुभपरिणाम के समय भी जीव को आकुलता का ही अनुभव होता है, इसलिये वह दुःखी है। अतः अशुभ और शुभ दोनों भावों से जीव की रक्षा करना अर्थात् शुभाशुभरहित मात्र ज्ञानस्वभावरूप दशा करना, सो जीवदया है। जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना के द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उस जीव के अशुभभाव होता ही नहीं है अर्थात् वहाँ परजीव की दया स्वयं ही पाली जाती है।

यदि परजीवदया पालन के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिये। परन्तु शुभराग धर्म नहीं है, किन्तु अधर्म है, हिंसा है।

३५—प्रथम, सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभाव को जानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसकभाव प्रगट होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य-पाप का भाव होता है, किन्तु वह उसे अपना स्वभाव नहीं मानता, इसप्रकार मान्यता में पुण्य-पाप से अपने स्वभाव की रक्षा किए रहता है इसलिये उसके यथार्थ जीवदया है। अज्ञानी जीव अपने को क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभाव का नाश करता है, और यही हिंसा है।

और फिर 'जीवदया' तो कही जाती है, किन्तु 'शरीरदया' नहीं कही जाती; क्योंकि शरीर, जीव नहीं है। लोग जो शरीर की क्रिया से तुलना करते हैं, सो मिथ्या है। जीव, शरीर से भिन्न सदा चेतनस्वरूप है, उसे श्रद्धा ज्ञान-चारित्र में स्थिर रखना और विकार में नहीं जाने देना ही जीवरक्षा है।

'मैं परजीव की रक्षा करूँ'—ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीवहिंसा ही है, इसप्रकार पहले श्रद्धा में मानना चाहिये; और वैसी मान्यता होने के बाद भी अस्थिरताा के कारण शुभ विकल्प उठता है, किन्तु वह धर्म नहीं है।

३६—मिथ्यादृष्टि जीव, जीवरक्षा के शुभभाव करते समय यों मानता है कि मैं परजीव की रक्षा कर सकता हूँ, तथा मुझे इस शुभभाव से धर्म होगा। सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा जीव युद्ध कर रहा हो और उसके अशुभ परिणाम हों किन्तु उसके अन्तरंग में यह प्रतीति होती है कि यह युद्ध की और देह की क्रिया मेरी नहीं है, मेरे पुरुषार्थ के दोष से जितना अशुभभाव होता है, उतनी हिंसा है, किन्तु वास्तव में वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है। तो उस समय इन दोनों जीवों में से मिथ्यादृष्टि जीव के अनंती हिंसा विद्यमान रहती है, और सम्यग्दृष्टि जीव के अल्प हिंसा है; अरे! श्रद्धा की अपेक्षा से तो वह लड़ाई के समय भी अहिंसक है, क्योंकि उसके आंशिक शुद्ध चेतना का परिणाम रहता है। जितने अंश में शुद्ध चेतनारूप परिणाम प्रवर्तमान हो, उतने अंश में युद्ध के समय भी जीवदया विद्यमान रहती है, और मिथ्यादृष्टि जीव के किंचित्मात्र भी शुद्ध चेतनारूप परिणाम नहीं है; इसलिये उसके जीवरक्षा के भाव के समय भी जीवहिंसा ही है। यह तो अन्तरंग शुद्ध चेतना के परिणाम से माप किया है। शरीर की क्रिया तो दूर रहो किन्तु पुण्य-पाप के भाव पर से जीवदयारूपी धर्म का सच्चा माप नहीं निकलता।

३७—परमार्थ धर्म का अर्थ है निश्चयधर्म-सच्चा धर्म; वह एक ही प्रकार का है, फिर उसे चाहे जीवदया कहो या वस्तुस्वभाव। उसमें एक शुद्ध-चेतना परिणाम ही धर्म है। ऐसा निश्चय धर्म

का स्वरूप नहीं है कि 'कभी शुद्ध चेतना को धर्म कहा जाय, और कभी-कभी शुभ को भी धर्म कहा जाय।' निश्चय धर्म तो एक ही प्रकार का है।

३८—'मैं आत्मा कौन हूँ' इसकी प्रतीति के बिना शुद्ध चेतना कहाँ से लायेंगे? बाह्य में जीव मरें या जीते रहें, उनकी संख्या द्वारा हिंसा का दया का यथार्थ माप नहीं होता। अहिंसा का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन होने पर होता है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी-अस्थिरता के कारण जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है, उतनी चारित्र की हिंसा है। परन्तु जितनी आत्मप्रतीति रहती है, उतनी जीवदया है। इसप्रकार साधक के आंशिक अहिंसा और आंशिक हिंसा दोनों साथ होती हैं। अज्ञानी के एकांत-जीव हिंसा ही है, वीतरागी ज्ञानी के संपूर्ण अहिंसा है। वस्तु-स्वभावरूप जैन शासन में धर्म का स्वरूप त्रिकाल ऐसा ही है।

३९—अपने भाव में अनंत परद्रव्यों के स्वामित्व का अभिमान न होने देना और अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को पुण्य-पाप से भी भिन्नरूप श्रद्धा में स्थिर रखना सच्ची जीवदया है। जगत् को उसका माहात्म्य नहीं है, और शुभ का माहात्म्य होता है। जो पुण्य के विकल्प से अपने को लाभ मानता है, वह पुण्य को अपना स्वरूप ही मानता है, क्योंकि जो जिसे अपना स्वरूप मानता है, उसी से अपना लाभ मानता है, और जिस जीव ने पुण्य को अपना स्वरूप माना, उस जीव ने जगत् के समस्त आत्माओं के भी पुण्यस्वरूप माना है; इसप्रकार उसने जगत के समस्त आत्माओं के स्वभाव को विकारी माना है और इसलिये उसने अपनी मान्यता में विश्व के सर्व जीवों की हिंसा की है। यह महा जीव हिंसा का पाप जगत् को ज्ञात नहीं होता।

४०—हिंसादिक के अशुभभाव में तीव्र आकुलता है, इतना ही नहीं किन्तु जो शुभभाव होता है, उसमें भी आकुलता ही है। उन दोनों आकुलताओं में हिंसा है, उनसे रहित निराकुलतारूप ज्ञानचेतना का ही जितना अनुभव हो, उतना ही जीवरक्षा है। अपने शुद्ध जीव परिणाम की रक्षा करना, जीव परिणाम को नष्ट न होने देना ही शुद्ध चेतना-परिणामरूप धर्म है। शुद्ध चेतनापरिणाम के बिना दया, दर्शन, ज्ञान, चारित्र या क्षमा इत्यादि कोई धर्म यथार्थ होना ही नहीं है।

४१—ऐसी मान्यता मिथ्या है कि 'परजीव की रक्षा करने का भाव करना अपना कर्तव्य है।' परजीव की रक्षा करने का जो भाव है, सो तो विकार है; क्या विकार करना आत्मा का कर्तव्य है? ज्ञानी तो यों जानता है कि मात्र ज्ञातारूप से स्वभाव में स्थिर रहना मेरा कर्तव्य है, मैं जितना अपने ज्ञाता स्वभावरूप से स्थिर रहूंगा, उतना धर्म है, और ज्ञातृत्व के अतिरिक्त अन्य जिस किसी वृत्ति का उत्थान हो, सो वह मेरा नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टारूप से अपने

चेतनापरिणाम को स्थिर रखता है, और यही धर्म है।

वस्तुस्वभावरूप धर्म, उत्तमक्षमादि दस प्रकार धर्म, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म और जीवरक्षारूप धर्म, इन चार प्रकार की प्ररूपणा में शुद्ध-चेतनापरिणाममय एक ही प्रकार का धर्म है। निश्चय धर्म एक ही प्रकार का है।

४२—व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, इसलिये वह भेदरूप है। जीव की पर्याय के परिणाम अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिये व्यवहार धर्म भी अनेक प्रकार का है। प्रयोजनवश एकदेश को सर्वदेशरूप से कहा जाता है, सो व्यवहार है, तथा दूसरे के निमित्त से अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का आरोप करना, सो व्यवहार है।

जब निश्चयधर्म की प्रतीतिपूर्वक स्वभाव में स्थिर न हो सके, तब शुभराग का अवलम्बन होता है, निश्चयस्वभाव की प्रतीति से अशुभराग से बचता है, इसलिये उसे व्यवहार से धर्म कहा है। वह तो संपूर्ण रागरहित ही है, तथापि शुभराग को भी उपचार से धर्म कहा है, वहाँ मात्र अशुभराग से बचने के लिये प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, इसलिये रागरहित स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक राग से बचा रहा, सो उस अपेक्षा से इस शुभराग को धर्म कहना व्यवहार है। धर्म तो वीतरागभावरूप है और शुभरागरूप धर्म नहीं है, तथापि निश्चयस्वभाव के लक्षपूर्वक होने से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान के निमित्त से) राग में धर्मत्व का आरोप करना, सो व्यवहार है। यह व्यवहार अन्य वस्तु के निमित्त से एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के आरोप करनेरूप है।

जिस जीव के श्रद्धा में शुभराग का आदर नहीं है और स्थिरता में अभी कचावट है—ऐसा जीव, आत्मा की प्रतीति स्थिर रखकर शुभराग के द्वारा अशुभराग से दूर रहता है, और श्रद्धा के बल के कारण उसके आंशिक शुद्धता बढ़ती ही जाती है। उसके उपचार से शुभराग को भी व्यवहारधर्म के रूप में कहा जाता है अर्थात् ऐसा लक्ष में रखकर समझना चाहिये कि वह परमार्थ से धर्म नहीं है, परंतु जिसके रागरहित स्वभाव का लक्ष नहीं है और मात्र राग में ही धर्म मान बैठा है—ऐसे जीव को शुभराग में तो उपचार से भी धर्म नहीं कहा जा सकता। जहाँ निश्चय की प्रतीति हो, वहाँ रागादि में उपचाररूप व्यवहार होता है, परंतु निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

इसप्रकार निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म का स्वरूप समझाया, परन्तु दोनों प्रकार के धर्म का मूल तो सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होने के बाद ही दोनों प्रकार के धर्म होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना एक भी प्रकार का धर्म नहीं होता।

जिनसूत्र में निश्चय और व्यवहार की कथन शैली

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं॥६॥

—अष्टप्राभृत, सूत्रप्राभृत

जिन-भाषित सूत्र को निश्चय और व्यवहार स्वरूप से जानकर योगीश्वर मुनि, कर्मों का नाश करके अविनाशी सुखरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

जिनसूत्र में परमार्थ अर्थात् निश्चय और व्यवहार का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है:—

चार अनुयोगरूप शास्त्रों में जिनागम की परिभाषा दो प्रकार से सिद्ध है—एक आगमरूप और दूसरी अध्यात्मरूप। जिसमें सामान्य-विशेषरूप से सर्व पदार्थों का प्ररूपण किया जाये, वह आगमरूप है, और जिसमें एक आत्मा के ही आश्रय से निरूपण किया जाये, वह अध्यात्म है। जिनागम की परिभाषा के अहेतुवाद और हेतुवाद नामक भी दो प्रकार हैं। इनमें से मात्र सर्वज्ञदेव की आज्ञा से ही जिस कथन को प्रमाण माना जाये, वह अहेतुवाद है, और प्रमाण-नय के द्वारा वस्तु की निरबाध सिद्धि करके जो कथन माना जाये, सो हेतुवाद है। ऐसे दो प्रकार के आगम में निश्चय और व्यवहार को लेकर जो विवेचन किया गया है, उसका सार यहाँ दिया जा रहा है:—

आगमरूप शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार की कथनशैली

जब आगमरूप सर्व पदार्थों के विवेचन पर निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से विचार करते हैं, तब वस्तुस्वरूप सामान्य-विशेषरूप से अनन्त धर्मात्मक है, यह ज्ञानगम्य होता है, उसमें सामान्यरूप निश्चयनय का विषय है, और जितना विशेष है, उसे भेदरूप करके अलग-अलग कहना, सो व्यवहार का विषय है। उस सामान्य-विशेषरूप वस्तु को द्रव्य-पर्याय स्वरूप भी कहते हैं।

जिस वस्तु की विवक्षा से साधन किया जाये, उस वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से जो कुछ सामान्य-विशेषरूप वस्तु का सर्वस्व होता है, वह निश्चय-व्यवहार के द्वारा जैसा ऊपर कहा गया है उसीप्रकार ज्ञात होता है। और उस विवक्षित वस्तु की किसी अन्य वस्तु के संयोगरूप अवस्था हो तो उसे (अन्य वस्तु को) उस विवक्षित वस्तुरूप कहना, सो भी व्यवहार है। उसे 'उपचार' भी कहते हैं। इसी बात को यहाँ उदाहरणपूर्वक समझाते हैं—

जब घड़ा नामक एक विवक्षित वस्तु पर निश्चय-व्यवहार को लगाते हैं, तब उस घड़े के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप, सामान्य-विशेषरूप जो कुछ (घड़े का) सर्वस्व है, उसे जैसा ऊपर कहा गया है, तद्नुसार निश्चय-व्यवहार के द्वारा कहना, सो निश्चय-व्यवहार है; और घड़े को किसी अन्य वस्तु के लेप से अन्य वस्तु के नाम से कहना तथा अन्य वस्तुयें-वस्त्रादिक में घड़े का आरोप करके उसे भी घड़ा कहना, सो भी व्यवहार है।

व्यवहार के दो आश्रय हैं—एक प्रयोजन और दूसरा निमित्त। इसमें से प्रयोजन सिद्ध करने के लिये किसी अन्य वस्तु को घड़ा कहना, सो प्रयोजनाश्रित व्यवहार है और किसी अन्य वस्तु के निमित्त से घड़े की जो अवस्था हुई, उसे घटरूप कहना, सो निमित्ताश्रित व्यवहार है। इसप्रकार जीव, अजीव आदि सर्व विवक्षित वस्तुओं पर निश्चय-व्यवहार लगाना चाहिये।

अध्यात्मरूप शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार की कथनशैली

जहाँ एक आत्मा की ही प्रधानता से निश्चय-व्यवहार लगाया जाये, वह अध्यात्म है। जहाँ सामान्य को (प्रत्येक जीव को) भी आत्मा कहा जाता है, और जो जीव अन्य सर्व जीवों से अपना भिन्न अनुभव करे, उसे भी आत्मा कहते हैं। सबसे भिन्न अपना अनुभव करके अपने आत्मा पर निश्चय-व्यवहार इसप्रकार लगाया जाता है:—

आत्मा स्वयं अनादि-अनन्त-अविनाशी सर्वद्रव्यों से भिन्न एक सामान्य-विशेषरूप अनन्त धर्मात्मक-द्रव्य-पर्यायात्मक जीव नामक शुद्ध वस्तु है। वह शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी, चेतनारूप, असाधारण धर्म सहित, अनन्तशक्ति धारक है। उसमें सामान्य भेद चेतना-अनन्तशक्ति का समूह द्रव्य है। और अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य जो कि चेतना के विशेष हैं, वे गुण हैं। तथा अगुरुलघु गुण के द्वारा षट्स्थानपतित-हानिवृद्धिरूप परिणमित होते हुए जीव की त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं। ऐसी जीव नामक वस्तु सर्वज्ञदेव ने देखी है, सो आगम प्रसिद्ध है; वह एक अभेदरूप निश्चयनय का विषयभूत जीव है। जब इस निश्चयनय की दृष्टि से अनुभव किया जाता है, तो जीव ऐसा है।

वस्तु के अनन्त धर्मों में से भेदरूप किसी एक धर्म को लक्ष में लेकर कहना, सो व्यवहार है। आत्मवस्तु का अनादि से पुद्गलकर्म के साथ संयोग है, उसके निमित्त से विकारभाव की उत्पत्ति होती है, उसके निमित्त से राग-द्वेषरूप विकार होता है। जिसे विभावपरिणति कहते हैं। उसके कारण पुनः नवीन कर्मों का बन्ध होता है। इसप्रकार अनादि निमित्त-नैमित्तिक भाव के द्वारा

चतुर्गतिरूप संसार के भ्रमण की प्रवृत्ति होती है। उनमें से जिस गति को प्राप्त होता है, उसी नाम से जीव को पुकारा जाता है, तथा जैसे रागादिक भाव होते हैं, उसी नाम से जीव को कहा जाता है। जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की बाह्य-अन्तरंग सामग्री का निमित्त प्राप्त करके शुद्ध निश्चयनय के विषयस्वरूप अपने शुद्धस्वरूप को जानकर श्रद्धा करते हैं, और कर्मसंयोग का तथा उसके निमित्त से होने वाले अपने भावों का यथार्थ स्वरूप जानते हैं, तब भेदज्ञान प्रगट होता है। परभावों से विरक्त हो और उस परभाव को मिटाने का उपाय सर्वज्ञ के आगम से भलीभांति समझकर, उस उपाय को अंगीकार करे, तब अपने स्वभाव में स्थिर होकर अनन्तचतुष्टय प्रगट करे और सर्व कर्मों का क्षय करके लोकशिखर पर विराजमान हो, तभी जीव मुक्त हुआ कहलाता है, उसे सिद्ध भी कहते हैं।

इसप्रकार जितनी संसार और मुक्त अवस्था के भेदरूप से आत्मा का निरूपण करते हैं, वह भी व्यवहारनय का विषय है। अध्यात्म शास्त्रों में उसे अभूतार्थ-असत्यार्थ आदि कहकर वर्णन किया है, क्योंकि शुद्ध आत्मा में संयोगजनित जो अवस्था होती है, वह असत्यार्थ ही है, वह कहीं शुद्ध वस्तु का स्वभाव तो है नहीं, इसलिये असत्य ही है। और निमित्त की अपेक्षा से जो अवस्था होती है, वह भी आत्मा का ही परिणाम है, और जो आत्मा के परिणाम हैं, वह आत्मा में ही हैं, इसलिये उसे कथंचित् सत्य भी कहा जाता है। किन्तु जहाँ तक भेदज्ञान नहीं होता, वहीं तक यह पर्यायदृष्टि है, भेदज्ञान होने के बाद यथावत् जानता है।

जो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं, वे आत्मा से भिन्न ही हैं; इसलिये शरीरादि का संयोग भी आत्मा से प्रगटरूप से भिन्न है, तथापि उसे आत्मा का कहते हैं-ऐसा यह व्यवहार प्रसिद्ध है, इसे असत्यार्थ या उपचार कहा जाता है। जो कर्मों के संयोगजनित भाव हैं, वे सब निमित्ताश्रित व्यवहार के विषय हैं, और उपदेश की अपेक्षा से उन्हें प्रयोजनाश्रित भी कहा जाता है।

इसप्रकार यह निश्चय-व्यवहार का संक्षिप्त स्वरूप है।

जहाँ सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ यह समझना चाहिये कि वे तीनों एक आत्मा के ही हैं, इसलिये उस सम्यक्दर्शन, ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव होना, सो निश्चय मोक्षमार्ग है। उसमें भी जबतक अनुभव की साक्षात् पूर्णता न हो, तबतक एकदेशरूप मोक्षमार्ग होता है, उसे कथंचित् सर्वदेशरूप मोक्षमार्ग कहना, सो व्यवहार है, और उस एकदेश को एकदेशरूप से कहना, सो निश्चय है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप कहकर उसे मोक्षमार्ग कहना, सो व्यवहार है, तथा बाह्य परद्रव्यरूप जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसके निमित्त हैं, उन्हें

दर्शन, ज्ञान, चारित्र के नाम से कहना, सो व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को अथवा जीवादिक तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहना, शास्त्रज्ञान को अर्थात् जीवादिक पदार्थों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहना, तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप प्रवृत्ति को चारित्र कहना, और बारह प्रकार के तप को तप कहना–इस प्रकार भेदरूप तथा परद्रव्य के आलम्बनरूप जो प्रवृत्ति है, उस सबको अध्यात्म शास्त्रों की अपेक्षा से व्यवहार कहा जाता है; क्योंकि वस्तु के एकदेश को वस्तु कहना ही व्यवहार है, और परद्रव्य की आलम्बनरूप प्रवृत्ति को उस वस्तु के (स्ववस्तु के) नाम से कहना भी व्यवहार है।

अध्यात्म शास्त्रों में ऐसा कथन भी है कि–अनन्त–धर्मरूप वस्तु का सामान्य–विशेषरूप से तथा द्रव्य–पर्यायरूप से वर्णन किया जाता है। वहाँ वस्तु को द्रव्यमात्र कहना अथवा पर्यायमात्र कहना, सो व्यवहार का विषय है; और द्रव्य तथा पर्याय का भी निषेध करके वस्तु को वचनअगोचर कहना, सो निश्चयनय का विषय है; तथा जो वस्तु द्रव्यरूप है, वही पर्यायरूप है–इसप्रकार दोनों को प्रधान करके कहना, सो प्रमाण का विषय है। उसका उदाहरण इसप्रकार है:—

जैसे, जीव को चैतन्यरूप; नित्य एक अस्तिरूप इत्यादि अभेदमात्र कहना, सो द्रव्यार्थिकनय का विषय है और ज्ञान–दर्शनरूप, अनित्य, अनेक, नास्तित्वरूप इत्यादि भेद रूप कहना, सो पर्यायार्थिकनय का विषय है। (इस द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक का समावेश व्यवहारनय में ही समझना चाहिये) और उन दोनों प्रकार की प्रधानता का निषेध करके मात्र वचनअगोचर कहना, सो निश्चयनय का विषय है; और उन दोनों प्रकारों को प्रधान करके कहना, सो प्रमाण का विषय है।

इसप्रकार निश्चय–व्यवहार का सामान्य–संक्षिप्त स्वरूप कहा गया है, उसे समझकर, जिसप्रकार आगम–अध्यात्म शास्त्रों में विशेषरूप से वर्णन हो, उसीप्रकार उसे सूक्ष्मदृष्टि से जानना चाहिये। जिनमत अनेकान्त–स्वरूप स्याद्वाद है, और उसका कथन नयाश्रित है। नयों के परस्पर विरोध को स्याद्वाद मिटाता है। नयों के विरोध और अविरोध का स्वरूप भलीभांति जान लेना चाहिये। ★

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

जैनदर्शन का व्यवहार

[श्री समयप्राभृत गाथा २७६-२७७ के प्रवचनों से]

जैनदर्शन जैसी श्रद्धा, जैनदर्शन जैसा ज्ञान, और जैनदर्शन जैसा चारित्र अन्य किसी में नहीं हो सकता। परमार्थ सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्य मतावलम्बी के हो ही नहीं सकता; इतना ही नहीं किन्तु जैनदर्शन में कथित व्यवहार-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र भी नहीं हो सकता। नवतत्त्वों की श्रद्धा, सत्शास्त्रों का ज्ञान और छह काय के जीवों की दया, —यह जैन का व्यवहार है। जैन के अतिरिक्त अन्य किसी भी मत में नवतत्व इत्यादि को स्वीकार नहीं किया गया है। वीतराग शासन में कथित सत्-शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य के आधार से कभी व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। जैनदर्शन के शास्त्रों का ज्ञान, व्यवहारज्ञान है और वह भी पुण्य का कारण है, किन्तु वह धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मस्वभाव की श्रद्धा, उसी का ज्ञान तथा उसी में स्थिरतारूप है। यह निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, उसके सद्भाव में नवतत्वों की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा, सत्शास्त्रों के ज्ञान को व्यवहारज्ञान और छहकाय के जीवों की दया को व्यवहारचारित्र कहा जाता है।

लोग बाह्य क्रिया में तथा राग में व्यवहार मानते हैं, किन्तु वह तो व्यवहार भी नहीं है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्वों का ज्ञान और छहकाय के जीवों की दया का पालन व्यवहार है; वह भी धर्म का कारण नहीं है। क्योंकि यदि वह धर्म का कारण हो तो अभव्य जीव के भी वह व्यवहार होता है, इसलिये उसके भी धर्म होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। यह व्यवहार, पुण्यबंध का कारण है। ऐसे व्यवहार के बिना उच्चपुण्य का भी बंध नहीं होता।

नवतत्वों की श्रद्धा को ही व्यवहारश्रद्धा कहा है। अन्य किसी दर्शन में नवतत्व हैं ही नहीं। जैनदर्शन के अनुसार नवतत्वों की श्रद्धा करने से ही निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता; किन्तु उस व्यवहार के लक्ष को छोड़कर अभेद स्वभाव में अभिमुख हो तो ही निश्चयसम्यक्त्व होता है। निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के वर्णन के साथ ही ज्ञानीजन यह सिद्ध करते जाते हैं कि जैनदर्शन का व्यवहार भी कैसा होता है। ग्यारहअंग का ज्ञान, नवतत्वों की श्रद्धा और छहकाय की दया का पालन, व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उस व्यवहार को निश्चय से लक्ष से स्वीकार किये बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती; तथा मात्र उस व्यवहार को मानने से भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जितने व्यवहार के भाव हैं, वे सब पुण्यबंध के कारण हैं। आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय ही मुक्ति का कारण है। व्यवहार के समस्त भावों का लक्ष पर के ऊपर तथा भेद पर है। जो जीव नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं, उन सबके ऐसा ही व्यवहार होता है। जिसने सच्चे निमित्तों को ज्ञान में स्वीकार नहीं किया, उसके उच्चपुण्य नहीं हो सकता। ★

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२-५-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड